



# International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2017; 3(3): 317-318

© 2017 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 26-03-2017

Accepted: 27-04-2017

Satish

Research Scholar, Sanskrit  
Department, Delhi University,  
Delhi, India

## व्यभिचारिभाव की अवधारणा: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

Satish

प्रस्तावना

व्यभिचारिभाव का स्वरूप

व्युत्पत्त्यर्थ एवं कोशगत अर्थ

सर्वप्रथम भरतमुनि ने व्यभिचारी शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार ही व्याख्या की—

वि+अभि+चर्+इन् = व्यभिचारिन्

अर्थात् विविध आभिमुख से जो (भावों) को रसों पर ले जाते हैं, उन्हें व्यभिचारिभाव कहते हैं।

कोशगत अर्थ

“व्यभिचारी” शब्द के मूल में “वि” “अभि” पूर्वक “चर्” धातु है जिसका अर्थ — “वामन शिवराम आप्टे” के कोश में इस प्रकार दिया है— व्यभिचारिन्— भटका हुआ, भूला हुआ, पथ भ्रष्टा, भ्रान्त, निश्चयभंग करने वाला, असंगत, अनियमित, असत्य, श्रद्धाहीन।

पारिभाषिक स्वरूप

सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत ने “व्यभिचारिणः इदानीं—व्याख्यास्यामः” ऐसा कहते हुए इनके दो अर्थ किये हैं—

(क) “विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः

(ख) वागङ्गसत्त्वेपेताः प्रयोगे रसान् यन्तीति व्यभिचारिणः

(ना.शा. 7.27)

अर्थात् विविध प्रकार से जो रसों की ओर गतिशील होते हैं, एवं शाब्दिक आङ्गिक एवं सात्त्विक भावों से युक्त होकर रसों तक पहुँचने के कारण व्यभिचारिभाव हैं। ये भावों को रसों की स्थिति पर किस प्रकार ले जाते हैं इस विषय में उनका कथन है—

“यथा सूर्य इदं दिनं नक्षत्रां वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीचते किं तु लोकप्रसिद्धमेतत् ॥ (ना.शा. 7.27 गद्य)

भरतमुनि के पश्चात् दशरूपककार एवं उसके टीकाकार धनञ्जय तथा धनिक ने इसकी व्याख्या की है—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।

स्थायिन्युन्मग्ननिर्गनाः कल्लोलाः इव वारिधौ ॥

“यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्देव रत्यादौ स्थायिनी सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः ॥” (द.रू. 4.7)

यहाँ पर धनञ्जय ने “वि” के लिए “विशेष” अर्थ में एवं भरतमुनि के इस पर ले जाने का अर्थ छोड़कर “चरन्तो” को अभिमुखता से चलने वाले के अर्थ में सीमित कर दिया है।

शारदातनय के अनुसार—

जिन भावों का स्वभावतः बार—बार अस्थायी जन्म होता है, जो स्थायिभाव के साथ रसनिष्पत्ति में विचरण करते हैं, वे व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं— (भावप्रकाशन 1.14)

व्यभिचारिभावों की संख्या

भरतमुनि ने व्यभिचारिभावों की संख्या 33 मानी है— (ना.शा. 6218—21)

Correspondence

Satish

Research Scholar, Sanskrit  
Department, Delhi University,  
Delhi, India

भरतमुनि प्रतिपादित 33 व्यभिचारी- संख्या के नियमन का पण्डितराज जगन्नाथ तक के आचार्यों ने प्रयत्न किया ही है, तथापि कतिपय नवीन व्यभिचारिभावों का उद्भावन अवरूढ़ नहीं हुआ है। नृपेन्द्र भोज ने “ईर्ष्या”, “शम”, “स्नेह”, का और परिगणन करके उन्हें व्यभिचारिभावों में बढ़ाने की आवश्यकता बताई, और “अपस्मार” व “मरण” को अमान्य ठहराकर बहिष्कृत करना चाहा। (रस सिद्धान्त स्वरूप एवं विमर्श- पृ. 40-41)

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने “क्षुधा” “तृष्णा” “मैत्री” “मुदिता” “श्रद्धा” उपेक्षा” “सन्तोष” “क्षमा” “मार्दव” “आर्जव” तथा “दक्षिण्य” आदि को सम्भाव्य व्यभिचारियों में स्थान दिया है- (नाट्यदर्पण तृतीय विवेक 127-129)

### व्यभिचारिभावों का द्वैविध्य

स्थायिभावों के अन्तर्गत बीच-बीच में आविर्भूत तथा तिरोभूत होकर चलते हुए (संचरणशील) जिन भावों के द्वारा “रस” अनेक प्रकार से भिन्न किये जाते हैं वे भाव व्यभिचारिभाव कहलाते हैं- (भावप्रकाशन 2.23)

ये व्यभिचारिभाव काव्य के सौन्दर्य निरूपण में कभी अङ्गत्व (सहकारित्व) एवं कभी अङ्गत्व (मुख्यत्व) रूप में व्यवस्थित होते हैं।

### सहकारित्वरूप में

सार्वकालिक भावों (स्थायिभावों) को रस रूप में अभिव्यक्त कराने में मुख्य रूप से सहकारित्व का कार्य इन व्यभिचारिभावों के द्वारा ही संपन्न होता है। आचार्य मम्मट ने भी रस निरूपण के सन्दर्भ में व्यभिचारिभावों को काव्य के आत्मतत्त्व रसाधिध्वनि में सहकारिकारण रूप ही माना है। सहकारिरूप में व्यभिचारिभावों की स्थिति यथा-

“शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै  
निद्रा- व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखं।  
विस्त्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं  
लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।  
का. प्र. 4.27.29

इस सम्भोगशृङ्गार रस के उदाहरण में “रति” स्थायिभाव को “लज्जा” “हास” तथा उससे व्यङ्ग्यहर्षादि व्यभिचारिभाव, सहकारित्वरूप में पोषित कर रहे हैं।

### मुख्यत्वरूप में

“व्यभिचारितथाञ्जितः” इस प्रकार आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम व्यभिचारिभावों के व्यङ्ग्यत्व को परिलक्षित किया। काव्य में जब व्यभिचारिभाव अङ्गत्व के रूप में व्यवस्थित होते हैं, तब वे “भावध्वनि” रूप होकर काव्य के आत्मतत्त्व का स्थान ग्रहण करते हैं। काव्य में इनकी प्रधानता होने पर ये “भावाभाव”, “भावोदय” “भावसन्धि” “भावशबलता” इत्यादि रूपों में रहते हुए रसाधिध्वनि के रूप में व्यवस्थित होते हैं। “भावाभास” के उदाहरण में यथा-

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी  
सास्मेरयौवन तरङ्गित विभ्रमाङ्गी।  
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं  
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः।।

(का. प्र. 4.37)

“भावाभास” के प्रस्तुत उदाहरण में “चिन्तारूपी” व्यभिचारिभाव को अनौचित्य प्रवर्तित माना है। इसका आशय यह है कि पहले स्त्री के अनुराग का वर्णन होना चाहिए, जो कवि संप्रदाय का नियम है। परन्तु यहाँ पुरुषानुराग का वर्णन है, इसलिए अननुरक्ता सीता के

प्रति यह “चिन्ता” का प्रदर्शन अनौचित्यमय है। अतः यह “भावाभास” का उदाहरण है।

इस प्रकार काव्य में मुख्य रस के रहते हुए भी इन भावाभासादि की प्रधानता हो जाती है, किन्तु पारमार्थिक प्रधानता तो “रस” की ही होती है। जिसको काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने उदाहरण रूप में कहा है-

“ते भावशान्त्यादयः अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्”  
(का.प्र. 4.37 वृत्ति)

### व्यभिचारिभावों का रसदोष एवं रसदोषापवाद

इससे अतिरिक्त ये व्यभिचारिभाव जब साध्यरूपी रस के निरूपण में वाचक शब्द के द्वारा कथित होते हैं, तो ये रस दोषरूप में भी माने गये हैं। यथा-

“सग्रीडा” दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे”

यहाँ पर “ग्रीडा” अर्थ का वाचक शब्द के द्वारा कथन होने से व्यभिचारिभाव का स्वशब्दवाच्यता दोष है। (का.प्र. 7.62 वृत्ति) किन्तु कहीं-कहीं पर विशेष परिस्थितियों में उक्त दोष को दोष नहीं मानते हुए आचार्य मम्मट उसका अपवाद दर्शाते हैं-

### औत्सुक्येन कृतत्वर सहभुवा व्यावर्तमाना हिया।” (का. प्र. 7.63 वृत्ति)

यहाँ “औत्सुक्य” तथा “लज्जा” व्यभिचारिभावों को स्वशब्द से कहा गया है, परन्तु यह दोष नहीं है, क्योंकि यदि यहाँ इनको स्वशब्द से न कहा जाये तो “त्वर” तथा “व्यावर्तन” रूप अनुभावों द्वारा निश्चितरूप से “औत्सुक्य” तथा लज्जा का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि “त्वर” और “व्यावर्तन” रूप अनुभाव शेष तथा भय आदि के कारण भी हो सकते हैं।

इस प्रकार आद्योपान्त परिशीलन से व्यभिचारिभाव ऐसे रसिक के रूप में आते हैं, जो नियमों एवं मान्यताओं से परे हैं। ये काव्य में रसत्व के भर्ता हैं, तथा पोषक है। वस्तुतः ये परोपकारी जीव हैं। आचार्य जगन्नाथ कहते हैं-

ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्।  
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः।।

ये स्थायित्व में उपकृत होकर भी स्थिर नहीं होते हैं, इनके कारण रूप विभावों के नष्ट होने पर स्वयं भी विनष्ट हो जाते हैं। ये काव्यतत्त्व के सहकारिरूप होते हुए भी कुछ स्थानों पर प्रधानरूपेण स्थित होते हैं। ये काव्य में स्वशब्दवाच्य से रसापकर्षक होते हुए भी कुछ विशेष परिस्थितियों में “रस” के सहायक रूप में ही व्यवस्थित होते हैं।